
इकाई 8 कहानी की आलोचना की परंपरा

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 वैश्विक परिदृश्य में कहानी की आलोचना की परंपरा

8.3 हिंदी साहित्य में कहानी की आलोचना की परंपरा

8.3.1 हिंदी साहित्य में कहानी की आलोचना के आरंभिक प्रयास

8.3.2 हिंदी समाज में स्वीकृति पाने का संघर्ष

8.3.3 कहानी के साथ हिंदी आलोचना के सलूक का प्रश्न

8.3.4 कहानी आलोचना का पूर्व-परिदृश्य

8.3.5 हिंदी कहानी और कहानी आलोचना के विकास में सहवर्तिता का अभाव

8.3.6 कहानी की आंदोलनात्मक दिशाएं

8.3.7 कहानी की आलोचना में काव्यालोचना के उपनिवेश और कहानी की आलोचना की मुक्ति का प्रश्न

8.3.8 कहानी आलोचना में कुछ प्रमुख हस्तक्षेप

8.4 सारांश

अभ्यास

8.0 उद्देश्य

यह एम. ए.(हिंदी) के द्वितीय वर्ष से संबंधित मॉड्यूल के पाठ्यक्रम 'कहानी :स्वरूप और विकास' से संबद्ध दूसरे खण्ड की आठवीं इकाई है। इस इकाई में हम कहानी की आलोचना की परंपरा के विकास पर (जिसमें वैश्विक आधार पर कहानी की आलोचना के विषय में सोची समझी गयी जरूरी बातों को शामिल करने की भी कोशिश की जायेगी) बात करेंगे। जैसा कि हम जानते हैं कि कहानी अपेक्षाकृत एक नयी विधा है। जहाँ तक कहानी की आलोचना का सवाल है, उसे व्यवस्थित रूप तो और देर से प्राप्त हुआ। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप विश्व में और हिंदी साहित्य में कहानी की आलोचना की परंपरा के विकास को समझ सकेंगे/सकेंगी।

8.1 प्रस्तावना

जिस तरह कविता और उपन्यास की व्यवस्थित आलोचना मिलती है उस तरह कहानी की आलोचना कम ही मिलती है। कविता, उपन्यास और अन्य विधाओं में जिस तरह आलोचकों ने दिलचस्पी ली, कहानी में वैसी दिलचस्पी का अभाव रहा। अतः कहानी के बारे में जो भी विचार और सौंदर्य-दृष्टियाँ सामने आयीं वे ज़्यादातर कहानी लेखकों के व्यक्तिगत निबंधों और धारणाओं की देन थीं। बाद में कहानी-संकलनों की भूमिकाओं ने कहानी की आलोचना की व्यवस्थित ज़मीन तैयार करने में मदद की।

8.2 वैश्विक परिदृश्य में कहानी की आलोचना की परंपरा

लंबे समय तक कहानी को नये और कम अनुभव वाले लेखकों की विधा माना गया। इसके पीछे यह सोच काम कर रही थी कि उपन्यास लिखने के लिये काफी अनुभव और परिपक्वता की ज़रूरत होती है। इसलिये उपन्यास को गंभीर विधा और कहानी को हल्का-फुल्का लेखन समझा गया। लेकिन इस धारणा का कहानी लेखकों ने पुरजोर विरोध किया। सबसे गौरतलब बात यह है इन कहानीकारों में बहुत से ऐसे लेखक थे जो अपने दौर के महान उपन्यासकार भी थे। इन लेखकों ने कहानी में संक्षिप्तता को, प्रभाव की एकान्विति को, चरित्रों की सीमित संख्या को उसकी ताकत माना। सामरसेट मॉम ने कहानी की सराहना इस बात के लिये की कि संक्षिप्त होने के बावजूद उसका एक आरंभ होता है, एक मध्य होता है और एक अंत होता है। गाई दे मोपासाँ ने संक्षिप्तता के बावजूद जीवन के यथार्थवादी पक्षों की असरदार अभिव्यक्ति के लिये कहानी को एक मूल्यवान विधा के रूप स्वीकार किया। कहानी के लेखकों ने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया कि यहाँ एक विस्तृत कथानक को रचने और अंतःसंघर्षों को सुलझाने की बाध्यता नहीं होती। कहानी अपने संक्षिप्त स्वरूप में ही भावार्थ के सूक्ष्म उतार-चढ़ावों को चित्रित करने में सक्षम होती है। वे कहानी लेखक जो अपने दौर के प्रसिद्ध उपन्यासकार भी थे, उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर कहानी विधा को इस तथ्य की रोशनी में कलात्मकता से परिपूर्ण माना कि उपन्यास के उलट यहाँ पात्रों के भौतिक चित्रण की कोई आवश्यकता नहीं होती। पात्रों की खूबियों और कमजोरियों को उनके आपसी वार्तालापों के द्वारा ही उभारा जाता है। इन कहानीकारों (जो उपन्यासकारों के रूप में भी लोकप्रिय हुए) के विचार कहानी की आलोचना के विकास में महत्वपूर्ण साबित हुए क्योंकि यह उपन्यास और कहानी की रचना प्रक्रिया के दौरान उनके अपने कला-अनुभवों पर आधारित थे। टूमैन कपोट का स्पष्ट कहना था कि गंभीरता से देखने पर आम धारणा के विपरीत कहानी मुझे एक ऐसा कलारूप प्रतीत होती है जिसे साधना सबसे ज्यादा कठिन है और जो अभी तक प्रचलित सभी गद्य रूपों में सबसे ज्यादा अनुशासन की माँग करती है। एक लेखक के रूप में जो भी तकनीक और कला कौशल मैने अर्जित किया है, वह इसी कलामाध्यम में हाथ आजमाने के चलते आया है। कहानी के वाक्यविन्यास की लय में हल्की सी गड़बड़ी भी उसे बिगाड़ देती है। कपोट ने बिना किसी लाग लपेट के कहा कि जेम्स ज्वायस ने कहानी को चाहे जितना अगंभीर माना हो, वे 'यूलिसिस' जैसा कालजयी उपन्यास नहीं लिख सकते थे, यदि वह 'डब्लिनर्स' जैसी महान कहानी न लिखते। चेखव के कहानी विषयक विचारों ने बाद के कहानीकारों और कहानी के आलोचकों को गहराई से प्रभावित किया। चेखव का कहना था कि कहानी में वह उतना महत्वपूर्ण नहीं होता जो उसकी सतह पर दिखता है, बल्कि वह ज्यादा महत्वपूर्ण होता है जो उसके भीतर छिपा हुआ होता है। चेखव की इसी धारणा से इत्तेफाक रखते हुए कहानी के संदर्भ में हेमिंग्वे ने समुद्र में बहती हुई बर्फ की विशाल चट्टान का प्रतीक गढ़ा। हेमिंग्वे ने कहा कि मैं कहानी लिखते समय आईसबर्ग (समुद्र में बहती हुई बर्फ की विशाल चट्टान) के सिद्धांत का हमेशा ध्यान रखता हूँ। दिखाई देने वाले प्रत्येक हिस्से का आठ में से सातवां भाग हमेशा समुद्र की सतह के नीचे छिपा रहता है। जो हिस्सा दिखता है उसे मिटाया जा सकता है, मगर ऐसा करने पर आईसबर्ग के छिपे हिस्से को मजबूती ही मिलती है। अगर कहानी लेखक वे चीजें छोड़ देता है जिनसे वह अनजान है, तो कहानी में छेद हो जाता है। फ्रैंक ओ कॉनर का कथन है कि "मुझे कहानी ही एकमात्र ऐसी विधा लगती है जो तटस्थता की दृष्टि से लिरिक कविता के काफी नजदीक होती है"। उपन्यास एक वृहत तर्कणा की, परिस्थितियों की वृहत जानकारी की माँग करता है। जबकि कहानी के साथ

यह बात नहीं होती, वह परिस्थितियों के प्रति वैसे ही तटस्थ रहती है जिस तरह लिरिक कविता। कहानी में एक स्पष्ट प्रसंग होता है, याने कहानी में सुनाने के लिये एक कहानी होती है। यह प्रसंग केवल एक घटना नहीं होता, बल्कि अर्थ की सघनता से परिपूर्ण अनुभव होता है। कैथरीन एन पोर्टर ने स्वीकार किया कि जब तक वे कहानी का अंत नहीं लिखतीं, वे कहानी की शुरुआत नहीं कर पातीं: "हमेशा मैं अपनी कहानी का आखिरी वाक्य, आखिरी अनुच्छेद, आखिरी पेज पहले लिखती हूँ, फिर वापस जाकर कहानी को लिखना शुरू करती हूँ। इससे मुझे पता रहता है कि मैं कहाँ जा रहा रही हूँ, मेरा क्या लक्ष्य है।" एडगर एलन पो को कहानी का पहला सचेत सिद्धांतकार होने का गौरव प्राप्त है। उन्होंने पहली बार कहानी के आरंभ के महत्व को उसके अंत के साथ जोड़ते हुए कहानी की सैद्धांतिक संरचना को एक सुव्यवस्थित रूप देने की कोशिश की थी।

कहानी लेखन के अपने अनुभव का जिक्र करते हुए आई. बी. सिंगर ने कहा : "कहानी लिखते समय मैं सदा इस बात का ध्यान रखता हूँ कि मैं जो कुछ भी कहना चाह रहा हूँ उसका एक वैचारिक परिदृश्य है। यह दुनिया और यह जीवन, जैसे कि हमें दिखते हैं, मनुष्य के लिये सबकुछ नहीं हैं। बहुत कुछ है जो इस जीवन और जगत के पार है और जिसे हम सतह पर देख नहीं पाते। कहानी में हमें सतह के पार के सत्यों की अनुभूति होती है। हालाँकि मैं धार्मिक दृष्टि से रूढ़िवादी नहीं हूँ, फिर भी जीवन के पार के सत्य मुझे कहानी में आकर्षित करते हैं।" जॉन स्टार्इनबेक का कथन है कि "हर कहानी में लेखक कुछ कहना चाहता है। मगर वह इसे कैसे कहेगा इसका कोई गणितीय फार्मूला नहीं है"। हर लेखक को अपनी बात कहने के लिये निजी तरीका अपनाना होता है जिसे दूसरा कहानी लेखक नहीं अपना सकता। कहानी के हर लेखक का अपना सत्य उसके भीतर की अनुभूतियों को नई तरह से अभिव्यक्त करने की उसकी पीड़ा का प्रतिफल होता है। कहानी का जादुई असर पाठक पर पड़ता है। बर्नार्ड मलामुड कहते हैं कि कहानी जीवन के कालखण्ड पर आधारित होती है। कहानी में होने वाला 'घटित' संक्षिप्त, तेजी से आकार लेने वाला और अद्भुत होता है। कहानी एक ऐसा तरीका है जिसमें लेखक जीवन की जटिलताओं को चंद पृष्ठों में इस तरह समेट पाने में सक्षम होता है कि कम समय में ही जिंदगी की गहरी समझ को आश्चर्यजनक घुमावों के साथ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सके। कहानी में जीवन की संवेदना अपने बहुवर्णी और बहुधर्मी स्वरूप में अभिव्यक्त होती है। कहानी में कविता की ही तरह बहुत कम अंतराल में विरुद्धों का सामंजस्य प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता होती है। यूडोरा वेल्टी के अनुसार कहानी जीवन के संघर्षों की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिये सबसे कारगर विधा है। कहानी में एक प्रभावशाली 'मूड' होता है। पात्र, घटनाएं, परिदृश्य सब इस 'मूड' के अधीन होते हैं। कहानी जीवन की नश्वरता और क्षण भंगुरता को पूरी संजीदगी के साथ प्रस्तुत करती है। कहानी में जीवन की व्यंजनायें अपने सांकेतिक स्वरूप में उपन्यास की तुलना में ज्यादा बेहतर तरीके से उद्घाटित होती हैं। जीवन की विसंगतियों को कहानी सौंदर्यपरक आयामों में कुशलता से रूपांतरित करती है।

एलिजाबेथ बोवेन का विचार है कि कहानी में उपन्यास की तरह निश्चयात्मक आधारों के प्रयोग की बाध्यता नहीं होती। इसीलिये कहानी नैतिक और सौंदर्यपरक सत्यों तक सहजता से पहुँच सकती है। कहानी उपन्यास की तुलना में मनुष्य को चेतना के भीतरी मंच पर साहस के साथ खड़े होने का सामर्थ्य प्रदान करती है।

उपरोक्त कहानीकारों और विद्वानों के विचार इस बात की एक बानगी प्रस्तुत करते हैं कि आज वैश्विक परिदृश्य में कहानी की आलोचना एक परिपक्व स्वरूप ग्रहण कर चुकी है।

एशियाई, अफ्रीकी, लातिन अमेरिकी आदि देशों (वह देश जो साम्राज्यवादी शोषण का शिकार हुए) की कहानियों की आलोचना ने उत्तर-औपनिवेशिक विचार प्रणालियों, साम्राज्यवाद विरोधी दृष्टिकोणों, नेग्रीट्यूड की अवधारणाओं को बखूबी आत्मसात किया है।

8.3 हिंदी साहित्य में कहानी की आलोचना की परंपरा

8.3.1 हिंदी साहित्य में कहानी की आलोचना के आरंभिक प्रयास

हिंदी में, एक विधा के रूप में उपन्यास के जन्म को भले ही पश्चिमी साहित्य-रूप से प्रभावित परिघटना माना जाये, लेकिन 'कहानी' के बारे में ऐसा मानना उचित नहीं है। 'कहानी' किसी न किसी (मौखिक और लिखित) रूप में भारतीय समाज की अपनी परंपरा में बहुत पहले से रही है। वाचिक रूप में लोक-कथाओं का हिंदी में, खास तौर से उसकी बोलियों में, अक्षय-कोश रहा। लिखित रूप में तो संस्कृत साहित्य में भी कहानी के आद्य रूप पाये जाते हैं। 'हितोपदेश', 'पंचतंत्र', 'वेताल पंचविंशतिका' और 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' आदि का उल्लेख इस संदर्भ में बहुधा होता है। पालि में जातक कथाओं के रूप में कहानी का अस्तित्व रहा। लेकिन इन पारंपरिक रूपों में कहानियाँ प्रायः नीति-कथन का माध्यम मात्र होती थीं।

मात्र नैतिक उद्देश्य या मनोरंजन वाले उद्देश्य से हटकर मानव जीवन के भौतिक अनुभवों की अभिव्यक्ति का दायित्व स्वीकारने वाली, गद्य की एक स्वतंत्र विधा के तौर पर कहानी ने जो आधुनिक रूप ग्रहण किया, वह पारंपरिक नीति-कथाओं या लोक-कथाओं वाले रूप से सर्वथा भिन्न दिखाई देता है। पारंपरिक कहानी 'किसी स्थान पर किसी समय-विशेष में अमुक व्यक्ति रहता था' वाली शैली में, अपने अनुभव को अतीत में अवस्थित करके देखती थी। इसके बरक्स आधुनिक गद्य में कहानी ने अपने अनुभव को स्वयं अपने समय में 'उपस्थित' रूप में देखने-दिखाने की तमीज अर्जित की। इसलिये, इस रूप में कहानी-कला के मूल्यांकन की कसौटी न तो यह हो सकती थी कि उसका नैतिक संदेश क्या है, न यह कि वह कितनी देर तक हमारे कौतूहल के साथ चल सकती है। एक साहित्यिक रचना के रूप में कहानी को, अपने समय-संदर्भ में नये उद्देश्यों से जुड़ना था। कहानी की अर्थवत्ता और प्राभाविकता की जाँच-परख के उपकरणों की आवश्यकता का आरंभिक अहसास संभवतः ऐसे ही किसी बिंदु पर हुआ होगा।

हिंदी में पहला उपन्यास किसे माना जाये या पहली कहानी होने का श्रेय किस रचना को दिया जाये, इस पर पर्याप्त चर्चा हुई है। लेकिन कथालोचन के क्षेत्र में प्रारंभिक प्रयासों के बारे में कुछ भी चर्चा कर पाना अभी भी मुश्किल है। एक लंबे समय तक हिंदी की रचनाशीलता के केंद्र में चूँकि कविता ही रही, इसलिये ज़्यादा सुसंगत विकास-क्रम काव्यालोचना का ही मिलता है।

भारतेंदु युग की पत्र-पत्रिकाओं ('कवि-वचन सुधा', 'हरीशचंद्र मैगजीन', 'हरीशचंद्र पत्रिका', 'ब्राह्मण', 'हिंदी प्रदीप', 'आनंद-कादंबिनी') में हिंदी आलोचना के अनेक नमूने, समय-समय पर छपे लेखों और पुस्तक समीक्षाओं में देखने को मिलने लगते हैं लेकिन इन नमूनों के अंतर्गत कहानी आलोचना का कोई रूप तलाश पाना संभव नहीं हो पाता। अलबत्ता उपन्यास आलोचना के क्षेत्र के कुछ प्रयास मिल जाते हैं- जैसे बालकृष्ण भट्ट ने लाला श्रीनिवास दास के उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' की समीक्षा 'हिंदी प्रदीप' में की।

8.3.2 हिंदी समाज में स्वीकृति पाने का संघर्ष

असल में, हिंदी में उपन्यास और कहानी जैसी विधाओं को सबसे पहले तो, सारा संघर्ष इसी बात को लेकर करना पड़ा कि हिंदी समाज में उनको साहित्यिक स्वीकृति कैसे मिले। जो पीढ़ियाँ 'पंचतंत्र' वगैरह की कहानियों को पढ़कर या दादी-नानी के मुँह से सुनी राजा-रानी या देवताओं और परियों की कहानियों से संस्कारित हुई थीं, उन्हें नयी तरह की कहानियों पर शक था कि वे नयी पीढ़ियों को संस्कार-भ्रष्ट कर सकती हैं। कहानी लिखने वालों को भी लगता था कि उनकी रचना को प्रशंसा की नजर से कम शक की नजर से ज़्यादा देखा जा सकता है। संभवतः ऐसी ही आशंकाओं के चलते कुछ कहानीकारों ने अपनी कहानियों के साथ अपना असली नाम जोड़ने से भी परहेज किया। कविगण जहाँ अपने नाम के साथ 'उपनाम' जोड़ने में गौरव का अनुभव करते थे, वहीं उन दिनों के कहानीकारों में से कईयों को अपना वास्तविक नाम छिपाकर 'छद्म नाम' से लिखना ज़्यादा उचित लगा। इसी प्रक्रिया में, गिरिजाकुमार घोष 'बिजली'(1904) के लेखक बने तो 'पार्वतीनंदन' हो गये। 'दुलाई वाली'(1907) की लेखिका राजेंद्र बाला घोष 'बंगमहिला' हो गयीं। 'वीरांगना' की लेखिका 'बावली बहू' हो गयी।

8.3.3 कहानी के साथ हिंदी आलोचना के सलूक का प्रश्न

महावीर प्रसाद द्विवेदी अपनी संपादकीय नीति में चाहे जितने भी मर्यादावादी या नैतिकतावादी रहे हों लेकिन हिंदी कहानी पर उनका बड़ा उपकार यह रहा कि 'सरस्वती' में हिंदी कहानीकारों को स्थान देने में उन्होंने कोई संकोच नहीं किया। हालाँकि, जैसा भवदेव पाण्डे ने लक्षित किया है, " तदयुगीन कविता-नाटक-निबंध तथा उपन्यास के साहित्य-भवन में कहानियों का जबरन प्रवेश पुराने खेमे के साहित्यकारों को बुरा लगा।" पुराने खेमे के ऐसे ही एक साहित्यकार थे चौधरी बद्री नारायण 'प्रेमघन' जिनका दृष्टिकोण कहानी के प्रति कितना निषेधवादी था, यह उनके इस कथन से जाना जा सकता है: "कुछ परिश्रम स्वीकार कर मस्तिष्क लड़ा विशुद्ध भाषा और भाव के संग विद्या और शिक्षा लाने से भाषा का उपकार संभव है, न कि केवल ऐसी कहानियों को लिख डालने से, जैसा कि लोग जबानी प्रायः कहा करते हैं और जिनके पढ़ डालने के पीछे के कुछ कष्ट या समय व्यर्थ जाने के अतिरिक्त पाठकों को और कुछ लाभ न हो"। ('आनंदकादंबिनी' य1908)

जब आचार्य द्विवेदी को 'सरस्वती' से हटना पड़ा तो 'सरस्वती' के नये संपादक बने देवी प्रसाद मिश्र। उन्होंने 'सरस्वती' में आचार्य द्विवेदी द्वारा निर्धारित 'आख्यायिका-खण्ड' को जारी रखने की कोई जरूरत नहीं समझी। उन्होंने कोई कहानी छापी भी तो 'फुटकल' के अंतर्गत। जाहिर है, कहानी को वे साहित्य की 'फुटकल' विधा से ज़्यादा कोई अहमियत देने के पक्ष में नहीं थे। कुछ कहानियों को लेकर यह प्रश्न भी उठा कि उन्हें हिंदी की मौलिक रचना माना जाये या किसी विदेशी भाषा में लिखी गयी कहानी का हिंदी अनुवाद! उदाहरणार्थ, 1900 में 'सरस्वती' में प्रकाशित 'इंदुमति' (लेखक किशोरीलाल गोस्वामी) की मौलिकता संदिग्ध हो उठी, जब उस पर किसी को बांग्ला की किसी कहानी की छाया दिखी तो किसी को शेक्सपीयर के नाटक 'टेंपेस्ट' की।

ये कुछ तथ्य हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि हिंदी में कहानी लिखने का समारंभ हो चुकने के काफी बाद तक भी यह तय नहीं हो पा रहा था कि 'कहानी' विधा के साथ हिंदी आलोचना का सलूक क्या हो! यह जरूर है कि कहानी के लिये विषय का चुनाव किन

आधारों पर किया जाये, इसका बेहतर विवेक उस दौर के कहानीकारों में जाग चुका था। कह सकते हैं कि इस विवेक को हिंदी कहानी के मूल्यांकन का एक आधार मानने की प्रवृत्ति उस दौर में विकसित हो रही थी। यही कारण है कि इंशाअल्ला खान की 'उदयभान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी', जो 19वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में लिखी जा चुकी थी, 20वीं सदी के आते-आते, कहानी के रूप में स्वीकृति पाने के श्रेय से वंचित हो चुकती है और माधवराव सप्रे, गिरिजादत्त बाजपेयी, बंग महिला जैसे कहानीकारों में हिंदी कहानी अपने विधागत रूप में अधिक साफ पहचान में आने लगती है। ये कहानीकार जो विषय अपनी कहानियों के लिये चुनते हैं, इस विवेक के साथ चुनते हैं कि उनके अपने समय की कोई न कोई सामाजिक समस्या उनकी कहानियों के केंद्र में अवश्य रहे। उदाहरण के लिये सप्रे ने किसानों के संघर्ष और जमींदारों द्वारा उनके शोषण को विषय बनाते हुए 'एक टोकरी भर मिट्टी' जैसी कहानी लिखी। गिरिजादत्त बाजपेयी ने बेमेल विवाह की समस्या को अपनी कहानी 'पंडित और पंडितानी' का विषय बनाया। मास्टर भगवानदास की कहानी 'प्लेग की चुड़ैल' अंग्रेजी शासन की त्रासद विडंबना से जुड़ी है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि हिंदी कहानी के प्रति यह भरोसा तेजी से जागने लगा था कि जीवन की यथार्थजन्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये चुने गये प्रसंग कहानी विधा में समर्थतम् रूप में ढाले जा सकते हैं।

उपर्युक्त कहानियों को अपना कोई बहुत समर्थ आलोचक तत्काल उस दौर में भले ही न मिला हो, लेकिन हम देख सकते हैं कि हिंदी कथालोचना में जब गम्भीरता से रुचि ली गयी तो, न केवल इन कहानियों का महत्व उजागर हुआ, बल्कि कहानी के आलोचनात्मक प्रतिमानों के कुछ बीज रूप भी उन्हीं में पाये गये। कुछ पर्यवेक्षण इस संदर्भ में यहाँ उल्लेख्य हैं। देवी प्रसाद वर्मा ने सप्रे की कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' में लक्षित किया "सातवें दशक में कहानी का जो स्वरूप आज हमारे सम्मुख है, उसके सभी बीज इस कहानी में स्पष्ट हैं।....नयी कहानी के प्रबल पक्षधर कमलेश्वर की वाणी किसी सीमा तक प्रस्तुत कहानी में मिलती है"। (दृष्टव्य—'पहली कहानी', सं. कमलेश्वर, 1985, पृ.14)। खगेंद्र ठाकुर यह कहने में कतरई नहीं हिचकते: "हिंदी कहानी का बीज तो भारतेंदु युग में ही बोया गया, कहानी का बिरवा मिट्टी फोड़ कर निकला उन्नीसवीं शताब्दी के खत्म होते-होते और बीसवीं सदी के आँख खोलते ही। 'एक टोकरी भर मिट्टी' हिंदी कहानी का पहला मजबूत कदम है"। (कथादेश, जून, 1999)

संवेदना की प्रगाढ़ता और परिवेश-अंकन की दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावपूर्ण कहानी का रूप क्या हो सकता है, यह जानने में जिस कहानी ने सर्वप्रथम योग दिया, वह है गुलेरी जी की 'उसने कहा था' (1915)। विजयमोहन सिंह ने उसे "हिंदी की प्रथम आधुनिक कहानी" होने का श्रेय देते हुए लिखा है कि इस कहानी में 'दशकों बाद आने वाली अनेक प्राविधिक प्रवृत्तियों के स्रोत ढूँढे जा सकते हैं'। ('आज की कहानी', 1983, पृ. 11-12)

8.3.4 कहानी आलोचना का पूर्व-परिदृश्य

हिंदी आलोचना के सर्वाधिक वैज्ञानिक रूप के प्रवर्तक आचार्य माने जाने वाले रामचंद्र शुक्ल मूलतः कविता प्रेमी ही थे। इसलिये वह उस दौर की कहानियों के बारे में इससे अधिक कुछ और नहीं लिख सके— "ऐसी कहानियों की ओर लोग बहुत आकर्षित हुए और वे इस काल के भीतर ही प्रायः सब मासिक पत्रिकाओं में बीच-बीच में निकलती रहीं"। ('हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. 481)। आश्चर्य होता है इस अगंभीरतायुक्त वक्तव्य को पढ़कर, खासकर इसलिये भी कि यह एक ऐसे आचार्य का वक्तव्य है जिसकी खुद

की लिखी कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' को हिंदी की 'पहली कहानी' की खोज में निकले कुछ अध्येताओं ने महत्वपूर्ण स्थान दिया है। लेकिन फिर भी कहानी विधा को व्यापक पाठक वर्ग की ओर से जो व्यापक स्वीकृति मिल रही थी, उसका दबाव कविता-प्रेमी आलोचकों पर भी था। श्यामसुंदर दास हों या रामचंद्र शुक्ल, कहानी के अपने वैशिष्ट्य को लक्षित करना दोनों के लिये एक हद तक जरूरी लगने लगा था। श्यामसुंदर दास ने कहानी के विकास को यों लक्ष्य किया था— "एक ओर कला की दृष्टि से उसका विकास होता गया और दूसरी ओर उसमें उन्नत विचारों की मात्रा भी बढ़ती गयी"। ('साहित्यालोचन, पृ. 185)।

द्विवेदी युग में 'सरस्वती' और 'इंदु' जैसी पत्रिकाओं के बीच कहानियों के चयन में नैतिकतावादी और भावुकतावादी आधारों में जो द्वंद्व था, उसके चलते जयशंकर प्रसाद के लिये 'सरस्वती' में कोई अवकाश नहीं था। प्रसाद को कहानीकार के रूप में 'इंदु' ने ही मंच दिया। प्रसाद की कहानी 'ग्राम' ('इंदु', 1911 में प्रकाशित) को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'कल्पना और भावुकता' का कोश कहकर सराहा। 'सरस्वती' में प्रकाशित, गुलेरी जी की 'उसने कहा था' के बारे में लिखा— "इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यंत निपुणता के साथ संपुटित है।" शुक्ल जी के इन कथनों से स्पष्ट है कि शुक्ल जी कहानी में यथार्थ और कल्पनाशीलता या भावुकता के सहअस्तित्व के प्रति उतने शंकालु नहीं थे, जितने शंकालु श्यामसुंदर दास और हरिभाऊ उपाध्याय जैसे आलोचक थे। श्यामसुंदर दास का कलावादी दृष्टिकोण यथार्थ के बारे में सही समझ बनने देने में बाधक था। उन्हें शिकायत हुई कि यथार्थ के नाम पर 'कहानियों में अधिकतर किसान या मजदूर पर किये गये उच्च वर्ग वालों के अत्याचारों का वर्णन' ही मिलता है। ('साहित्यालोचन, पृ. 191)। यह संकेत प्रेमचंद की कहानियों की ओर था। उधर प्रसाद की कहानियों का संग्रह 'छाया' आ चुका था, जिसका स्वागत कलावादियों ने किया लेकिन 'औदुम्बर' पत्रिका के संपादक हरिभाऊ उपाध्याय ने उसमें यथार्थ का अभाव देखा और शिकायत की कि "लेखक महाशय कल्पना-तरंग में इतने डूब जाते हैं कि उनको सत्य-सृष्टि का स्मरण भी नहीं रहता"। ('औदुम्बर', 1913)। इन दो अतिवादी दृष्टियों के बीच आचार्य शुक्ल कहानी आलोचना के बीच कम से कम इसलिये तो याद किये ही जायेंगे कि यथार्थ और भावुकता के बीच वैसा आत्यंतिक विरोध नहीं देखते और अपेक्षाकृत अधिक संतुलित दृष्टि रखते हैं।

कहानी आलोचना की कोई बहुत व्यवस्थित और स्वतंत्र पुस्तक खोजने निकलिये तो लंबे समय तक निराशा ही हाथ लगेगी। सन 1956 में जगन्नाथ प्रसाद शर्मा की पुस्तक प्रकाशित हुई 'कहानी का रचना विधान'। कहानी आलोचना की दिशा में कोई मौलिक सूझ इस पुस्तक ने नहीं दी लेकिन इसका ऐतिहासिक महत्व यह है कि इसके परिशिष्ट 'बोध-विश्लेषण' के अंतर्गत तीन कहानियों (अज्ञेय की 'गैंग्रीन', प्रसाद की 'आकाशदीप' और प्रेमचंद की 'ईदगाह' का विश्लेषण अलग-अलग विस्तृत रूप में करके प्रेमचंद से अज्ञेय तक की कहानी-संवेदना के विकास-क्रम को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

शुक्लोत्तर आलोचना में एक हस्तक्षेप कहानी के संदर्भ में आचार्य नंददुलारे बाजपेयी भी करते हैं। इस दृष्टि से उनकी पुस्तक 'आधुनिक साहित्य'(1956) का 'नई कहानी' शीर्षक अध्याय ध्यान आकृष्ट करता है। इसके अंतर्गत वे प्रेमचंद और उनके बाद की कहानीकार पीढ़ी पर विचार करते हैं लेकिन अपनी आलोचना के भाववादी रुझानों के कारण अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हो पाते।

8.3.5 हिंदी कहानी और कहानी आलोचना के विकास में सहवर्तिता का अभाव

हिंदी में इतिहास के स्रोत से लिये गये कथानकों को कहानी में ढालने का उपक्रम वृंदावनलाल वर्मा ने 20वीं सदी के पहले दशक में शुरू किया था। 'राखी बंद भाई' और 'तातार और वीर राजपूत' शीर्षक से उनकी दो कहानियाँ 'सरस्वती' में उसी दौर में छपीं। खुद प्रेमचंद की कितनी दिलचस्पी इतिहास में थी, इसका प्रमाण उनकी 'रानी सारंधा', 'राजा हरदौल', 'मर्यादा की वेदी', 'पाप का अग्निकुंड' तथा 'आल्हा' आदि कहानियों में मिलता है। प्रसाद का कहानी-संग्रह 'छाया'(1913) आया, तब तक प्रेमचंद का कोई संग्रह नहीं आया था, हालाँकि उर्दू में 'सोजे वतन' छप चुका था। 'छाया' की अनेक कहानियाँ ('तानसेन', 'अशोक', 'जहाँनआरा' आदि) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाली हैं। आगे चलकर भगवतीचरण वर्मा, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन ने भी इतिहासाधारित कहानियाँ लिखीं। लेकिन ऐतिहासिक कहानियों में इतिहास के उपयोग को लेकर कहानी आलोचना की कोई सैद्धांतिकी निर्मित हो, ऐसा नहीं हो पाया। भगवतशरण उपाध्याय ने अवश्य इतिहास और कथा-सृष्टि के आपसी रिश्तों को लेकर खासी उधेड़बुन की लेकिन उनका दृष्टिकोण प्रायः संदेहवादी रहा।

प्रेमचंदोत्तर पीढ़ी के कथाकारों में दो समानांतर 'त्रयियाँ' बनीं। एक त्रयी में अज्ञेय, जैनेंद्र, इलाचंद्र जोशी, तो दूसरी त्रयी में भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर और यशपाल। पहली त्रयी से आलोचना को कुछ मनोविश्लेषणात्मक प्रतिमान मिले। दूसरी त्रयी से 'किस्सागोई' या 'कहन' के तत्व के प्रति लोकाकर्षण के स्वरूप को समझने के सूत्र मिले। किसी भी सिद्धांत की यांत्रिक पटरी पर यदि रचनाशीलता चल पड़े तो इसकी सीमा क्या होती है, यह जानना हो तो पहली त्रयी के इलाचंद्र जोशी और दूसरी त्रयी के यशपाल पर क्रमशः प्रकाशचंद्र गुप्त और रामविलास शर्मा जैसे आलोचकों की टिप्पणियाँ मददगार हो सकती हैं। जोशी के यहाँ मनोविश्लेषण के रास्ते से कहानी अक्सर इस तरह गुजरती है कि कहानी 'कहानी' नहीं 'केस हिस्ट्री' बन जाती है। यशपाल के यहाँ मार्क्सवादी सूत्रों का अक्सर ऐसा पल्ला उनकी रचनाएँ थाम लेती हैं कि 'इति सिद्धम्' तक पहुँचने वाले 'प्रमेयों' (थ्योरम) का रूप ले लेती हैं।

मनोवैज्ञानिकता और सामाजिकता के द्वंद्व के बीच फंसे व्यक्ति-मन के चित्र उकेरने की कोशिश उपेंद्रनाथ अशक ने भी की। इस कोशिश की सफलता और असफलता का अंदाज उनकी 'डाची', 'पलंग', 'ठहराव' या 'आग और मुस्कान' जैसी कहानियों को पढ़कर लगाया जा सकता है।

गांधीवादी मन का एक रूप जैनेंद्र में देखा गया तो एक और रूप विष्णु प्रभाकर में लेकिन फर्क यह है कि जैनेंद्र की कहानियाँ दार्शनिकता की ओर ज्यादा झुक जाती थीं तो विष्णु प्रभाकर की कहानियाँ एक तरह के आदर्शवाद की ओर।

इतिहास, विचारधारा, दर्शन वगैरह के तत्वों से निर्मित कथा-दृष्टियों का उपर्युक्त विवरण इस उद्देश्य से यहाँ प्रस्तुत किया गया कि कहानी की आलोचना में इनके हस्तक्षेप का जो किंचित अदृश्य रूप रहा होगा, उसका अनुमान किया जा सके।

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद नाम से जो साहित्यांदोलन चले, उनमें कहानी की स्वतंत्र सत्ता को पहचानने का कोई उत्साह नहीं देखा गया। इन दोनों

आंदोलनों के अपने-अपने दायरों में जो भी प्रतिमान स्वीकार किये गये, वे सामान्यतया साहित्य की सभी विधाओं के लिये समान रूप से काम्य माने गये।

8.3.6 कहानी की आंदोलनात्मक दिशाएं

कहानी विधा की अपनी स्वतंत्र सत्ता की चिंता करने वाले आंदोलन हिंदी साहित्य में बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में उभरे। सन 1947 में मिली आजादी भारतीय समाज का संदर्भ बनी तो उसने साहित्य का भी संदर्भ बनने की एक सहज चेष्टा की। कहानी की स्वतंत्रता जैसा कोई मुहावरा तो नहीं बना, ('कविता की मुक्ति' का तो निराला के यहाँ छायावाद काल में ही बन चुका था) लेकिन कहानी को केंद्र में रखकर, जो पहला आंदोलन (1954-63) हिंदी में चला, वह था 'नई कहानी आंदोलन'। कहानी-आलोचना के कई महत्वपूर्ण हस्ताक्षर इसी आंदोलन के दौर में पहली बार सामने आये। देवीशंकर अवस्थी, सुरेंद्र चौधरी, धनंजय वर्मा आदि।

'नयी कहानी' नाम से लिखी जाने वाली रचनाओं में प्रायः मध्यवर्गीय शहरी जीवन की जटिलताओं में उलझे व्यक्ति-मन के द्वंद्वों का चित्रण मिलता था इसीलिये, इस दौरान 'शहर बनाम गाँव' की बहस भी छिड़ी। कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, मोहन राकेश और निर्मल वर्मा के कथानुभव में प्रायः नगर ही बसता था गाँव नहीं। गाँव कहीं था भी, तो एक 'नॉस्टेलजिया' मात्र था। शिवप्रसाद सिंह ने इस प्रश्न को गंभीरता से उठाया।

मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, नई कहानी वाले दौर में गाँव के अनुभवों पर कहानियाँ लिख रहे थे, रेणु, नागार्जुन भी। रेणु में तो अंचल अपनी पूरी जीवित सत्ता में उभरता था। इन्हें खासतौर से आलोचकों ने आँचलिक कथाकार की संज्ञा दी।

'अनुभूति की प्रामाणिकता', 'भोगा हुआ यथार्थ' जैसे कुछ प्रतिमानात्मक मुहावरे नई कहानी आंदोलन के अंतर्गत खूब उछले। इनसे अप्रभावित रहने वाले कहानीकारों में अमरकांत, शेखर जोशी, भीष्म साहनी ने नई कहानी की आत्मपरकता और व्यक्तिवादिता से अपने को बचाकर यथार्थ चित्रण की सहज राह पकड़ी। प्रेमचंद जैसी सादगी के साथ यथार्थ को व्यक्त करना इन्हें अभीष्ट रहा।

नयी कहानी के बाद कहानी केंद्रित अन्य आंदोलन भी चलाये गये। 'सचेतन कहानी', 'अ-कहानी', 'समांतर कहानी', 'जनवादी कहानी' आदि। इन आंदोलनों ने समय-समय पर अपने-अपने वैशिष्ट्यों को स्थापित करने की बहसें जरूर चलाईं, लेकिन वे अल्पजीवी ही रहीं। केवल 'जनवादी कहानी' को लेकर 'प्रतिबद्धता' और 'पक्षधरता' जैसे कुछ पद चलते रहे, लेकिन मूल रूप में ये प्रगतिवादी आलोचना की ही देन माने गये। अमृतराय ने 'सहज कहानी' नाम से एक आंदोलन चलाना चाहा। इन सब आंदोलनों से जुड़कर कुछ नये-नये नाम कहानीकारों के तो आते रहे लेकिन इन आंदोलनों में से कहानी आलोचना के कुछ समर्थ हस्ताक्षर भी उभरते, ऐसा लगभग नहीं हो सका। कहानी की समर्थ आलोचना का उत्साह ज़्यादातर उन्हीं आलोचकों में विकसित होते पाया जाता है, जो नयी कहानी आंदोलन के दौर की बहसों से आकृष्ट हुए।

8.3.7 कहानी की आलोचना में काव्यालोचना के उपनिवेश और कहानी की आलोचना की मुक्ति का प्रश्न

वस्तुतः कहानी आलोचना के साथ एक कठिनाई शुरू से ही यह रही कि वह काव्यालोचना में उपलब्ध किये गये प्रत्ययों का एक लंबे समय तक उपनिवेश बनी रही। आचार्य शुक्ल

हिंदी कहानी के विकास में हिंदी कवियों के योग की बात शुरू में ही कह चुके थे—“छोटी कहानियों का विकास तो हमारे यहाँ और भी विशद और विस्तृत रूप में हुआ और उसमें वर्तमान कवियों का पूरा योग रहा”।(‘हिंदी साहित्य का इतिहास’, पृ. 519)। यह धारणा दूर तक किसी न किसी रूप में कहानी आलोचना का ऐसा पीछा करती रही कि प्रायः काव्यालोचना के उपकरणों का ही उपयोग कहानी आलोचना में भी होता रहा। रामचंद्र शुक्ल से लेकर नामवर सिंह तथा उनके बाद के आलोचकों तक। परमानंद श्रीवास्तव जैसे आलोचक तो इतने उत्साह में रहे कि कविता में छंद की तर्ज पर ‘कहानी के छंद’ की बात करते देखे गये। आखिर जब छंद का बहिष्कार कविता कर चुकी हो तो छंद बेचारा कहानी में अपना आश्रय ढूँढ़ता क्यों न दिखता?

काव्यशास्त्र की छाया से कथालोचना को मुक्ति दिलाने के संघर्ष का बीड़ा इसीलिये प्रायः स्वयं कहानीकारों को आगे बढ़कर उठाना पड़ा। खासतौर पर ‘नयी कहानी’ आंदोलन के दौर में। कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, मोहन राकेश वगैरह ने तो मोर्चा संभाला ही, बाद में भैरव प्रसाद गुप्त और मार्कण्डेय तक इस मोर्चे पर डटे।

इधर अज्ञेय जैसे लेखक(जो कहानीकार के रूप में पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित कर चुके थे) कविता के सामने कहानी विधा को साहित्य की गंभीर विधा मानने से ही इंकार करने लगे और रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे आलोचक कहानी पर अपना यह निर्णय थोपने लग गये कि ‘कथा साहित्य असमय वृद्ध’ हो चुका है। तब हिंदी के नये कहानीकारों के कान खड़े होना और भी स्वाभाविक था।

हिंदी में कहानी की स्वतंत्र पत्रिकाओं(‘माया’, ‘कहानी’, ‘नयी कहानियाँ’, ‘सारिका’ इत्यादि) के प्रकाशन से कहानीकारों को मंच मिला, अपने पक्ष में अपनी लड़ाई खुद लड़ने का। कहानी लिखकर भी, और आलोचक की भूमिका में स्वयं उतरकर भी।

नामवर सिंह जैसे आलोचक, जो मूलतः कहानी के आलोचक नहीं थे, को भैरव प्रसाद गुप्त ने ‘नई कहानियाँ’ के संपादक के नाते, कहानी पर मूल्यांकनपरक लेख नियमित रूप से लिखने का आग्रह किया। यह यात्रा ‘हाशिये पर’ नामक स्तंभ से शुरू हुई और जनवरी 1960 से दिसंबर 1962, दो वर्षों तक जारी रही। इससे पहले भी नामवर सिंह ‘सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद’ की पत्रिका ‘कहानी’ में लिखते रहे थे। इलाहाबाद में से ही प्रकाशित ‘माया’ में भी कहानी पर उनका लेख प्रकाशित हुआ। ये सारे लेख बाद में ‘कहानी: नयी कहानी’ पुस्तक में एक साथ प्रकाशित हुए।

कहानी-समीक्षा का ढाँचा तैयार कैसे होगा, यह प्रश्न नामवर जी की चिंता के केंद्र में जब आया तो उन्हें यह कहना उचित लगा कि ‘जीवन के जिन मूल्यों की कसौटी पर हम कविता-उपन्यास आदि साहित्य रूपों की परीक्षा करते हैं, उन्हीं पर कहानी की भी परीक्षा होनी चाहिये। इससे कहानी समीक्षा का एक ढाँचा तो तैयार होगा ही, साथ-साथ मानवीय मूल्यों के संबंध में हमारा ज्ञान भी बढ़ेगा।’

नामवर जी ने लक्षित किया कि नये कहानीकार का ध्यान अब कहानी-शिल्प की ओर नहीं है। और यह कहानीकार की सीमा नहीं है, बल्कि यह जागरूक पाठक की अपेक्षा के अनुरूप है—“आज का जागरूक पाठक केवल कथानक की चरम सीमा से चौंक कर आल्हादित होने वाला मनुष्य नहीं रह गया है।” कथानक में नाटकीयता लाये बिना अनुभव को सहजतयः कैसे उभरने देना चाहिये, इस कला के आदर्श रूप का उदाहरण नामवर जी ने चेखव की कहानियों को बताया। नाटकीयता का सहारा छोड़कर कहानी

में कथानक के होने को नामवर जी ने 'कहानी में यथार्थवाद की विजय के उद्घोष' के रूप में लिया।

कहानी की सार्थकता नामवर सिंह ने इस बात में मानी कि कहानी 'जीवन की छोटी से छोटी घटना में भी अर्थ खोज ले।' नामवर सिंह ने कहानी की पाठ-प्रक्रिया को महत्व दिया और अपनी समझ को उसी में से विकसित होने दिया।

8.3.8 कहानी आलोचना में कुछ प्रमुख हस्तक्षेप

आगे हिंदी कहानी की आलोचना के क्षेत्र में सुरेंद्र चौधरी, देवीशंकर अवस्थी, हृषिकेश, धनंजय वर्मा और मधुरेश की सक्रियता विशेष ध्यान आकृष्ट करती है।

सुरेंद्र चौधरी ने भी नामवर सिंह की तरह कहानी की पाठ-प्रक्रिया से आलोचना-दृष्टि को विकसित होना अभीष्ट माना। सुरेंद्र चौधरी की पुस्तक का नाम ही है—'कहानी: पाठ और प्रक्रिया'। सुरेंद्र चौधरी की अपनी आलोचना दृष्टि का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि जो अमरकांत कहानीकार के रूप में नामवर के यहाँ 'हाशिये पर' भी नहीं थे, वे सुरेंद्र चौधरी की पाठ-प्रक्रिया के केंद्र में आ गये। ज़ाहिर है, सुरेंद्र चौधरी कहानी में भावगत् अमूर्तता की सीमा को नामवर से ज़्यादा समझ सके थे और अमरकांत तथा रेणु जैसे कहानीकारों में जीवन की स्थितियों को मूर्त रूप में देखने की शक्ति को अधिक सार्थक मानते थे। हृषिकेश कहानी में परिवेश और वैचारिक पक्षधरता के प्रश्न उठाते हुए देखे जाते हैं। देवीशंकर अवस्थी कहानी आलोचना में सिद्धांत चर्चा को बहुत महत्व नहीं देते। 'नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति' शीर्षक अपनी पुस्तक में वे प्रारंभ में ही आगाह कर देते हैं कि 'सिद्धांत चर्चा आलोचना नहीं होती।' उनकी दृष्टि 'रचना में रूप-बंध की मीमांसा' पर रहती है। वे कहानी के आलोचक के रूप में अपना दायित्व मानते हैं कि "जीवन की उस गहराई की थाह ली जाये, जहाँ से लेखक अपनी संवेदना की डोर के सहारे अनुभव को खींच कर कहानी में लाता है।"

धनंजय वर्मा ने भी नयी कहानी आंदोलन के प्रवक्ताओं की सी भूमिका अदा करते हुए कहानी आलोचना में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। उस दौरान लिखे गये उनके लेखों का संकलन 'हिंदी कहानी का रचनाशास्त्र' नाम से प्रकाशित हुआ।

मधुरेश के यहाँ कहानी आलोचना के अधिकांश प्रयास पुस्तक समीक्षा के रूप में मिलते हैं। लेकिन फिर भी जिस निष्ठा के साथ उन्होंने अपने लेखन में निरंतरता बनाये रखी, वह कहानी आलोचना की दृष्टि से मूल्यवान है। यह निरंतरतापूर्ण निष्ठा भले ही किसी सैद्धांतिकी में निष्पन्न न हो सकी हो, पर उनकी अध्ययनशीलता और व्यावहारिक समीक्षा में उनकी रुचि को दर्शाती है।

कहानी की आलोचना को गति देने वालों में कुछ ऐसे आलोचकों के नाम लिये जा सकते हैं, जिन्होंने कहानी पर ज़्यादा भले ही न लिखा हो लेकिन जो भी लिखा, वह विचारोत्तेजक साबित हुआ। इंद्रनाथ मदान, नेमिचंद जैन, विश्वनाथ त्रिपाठी, नित्यानंद तिवारी और विजयमोहन सिंह ने समय-समय पर कहानी के मूल्यांकन के लिये कुछ बहुत ही सार्थक संकेत किये। विश्वनाथ त्रिपाठी ने अमरकांत, शेखर जोशी, शानी, ज्ञानरंजन में आत्मपरकता से उबरकर निखरने वाली कहानी के तेज का महत्व दिखाया। उनकी किताब 'कुछ कहानियां: कुछ विचार' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। नेमिचंद जैन ने कहानी पर कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखी, 'जनांतिक' में उनके लिखे कुछ आलेख

संकलित हैं जिनसे पता चलता है कि ज्ञानरंजन, मुद्राराक्षस जैसे कहानीकारों पर उनके क्या विचार रहे। नित्यानंद तिवारी ने 'कथानक का आग्रह' शीर्षक से एक लंबा लेख लिखा, जो सीधे 'कहानी' की विधा से संबंधित नहीं है लेकिन नयी कहानी और प्रयोगवादी दौर की कहानियों में, कथानक को कहानी में निरा स्थूल तत्व मानकर जिस रूप में खारिज किया जा रहा था, उसके खतरे समझने की एक दृष्टि से वह लेख उपयोगी है।

विजयमोहन सिंह की पुस्तकों 'आज की कहानी'(1983) और 'कथा समय'(1993) में संकलित लेखों में कुछ कहानीकारों पर पुनर्विचार किया गया है तो कुछ पर पहली बार विचार किया गया है। पुनर्विचार के केंद्र में गुलेरी, प्रेमचंद, प्रसाद हैं तो पहली बार विचार के केंद्र में मुक्तिबोध, मनोहरश्याम जोशी हैं जिन पर अन्यत्र व्यवस्थित रूप से शायद ही कुछ लिखा मिले। रविभूषण, राजेंद्र कुमार, अजय तिवारी जैसे कुछ गंभीर अध्येताओं ने भी कहानी विधा पर जो टिप्पणियाँ की हैं, उनसे भी कहानी को परखने की दृष्टि मिलती है।

इधर कुछ विमर्शों ने हिंदी की कहानी आलोचना को गहराई से प्रभावित किया है। इनमें दलित विमर्श और स्त्री विमर्श प्रमुख हैं। इन विमर्शों ने कहानी और कहानी आलोचना के परिदृश्य में आमूलचूल बदलाव लाया है। कहानी लेखन और आलोचना के क्षेत्र में दलितों और महिलाओं की बढ़ती भागीदारी इसका प्रमाण है। अब कहानी आलोचना पारंपरिक मानदंडों और पूर्वाग्रहों को चुनौती देते हुए कहानी विधा के अब तक अनछुए पहलुओं की बेबाकी से पड़ताल करती दिख रही है। निःसंदेह कहानी की आलोचना का यह साहस बहुत सी उम्मीदें जगा रहा है।

8.4 सारांश

एम. ए.(हिंदी) के द्वितीय वर्ष के कहानी से संबंधित मॉड्यूल के पाठ्यक्रम 'कहानी: स्वरूप और विकास' के दूसरे खण्ड की आठवीं इकाई का अध्ययन आपने किया है। यह कहानी की आलोचना की परंपरा के विकास को दर्शाने वाली इकाई है।

इकाई-8 के पाठ में आपने देखा कि वैश्विक परिदृश्य में कहानी की आलोचना को आरंभ में वैसा प्रोत्साहन नहीं मिला जैसा कि कविता और उपन्यास की आलोचना को मिला था। आरंभ में कहानी आलोचना ने जो आकार लिया उसमें स्वयं कहानी लेखकों द्वारा लिखे गये लेखों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। बाद में कहानी आलोचना ने तमाम भ्रांतियों का निराकरण करते हुए विश्व स्तर पर अपनी एक अलग पहचान बनाई।

हिंदी में कहानी आलोचना की शुरुआत काफी संघर्षपूर्ण रही। उसको स्वीकृति पाने के लिये लंबा संघर्ष करना पड़ा। हिंदी में कई आलोचकों ने कहानी पर काम किया लेकिन कहानी की आलोचना को एक संगठित और उन्नत स्वरूप प्राप्त करने में काफी दिक्कतें आयीं। ज्यादातर जो भी उत्कृष्ट काम कहानी की आलोचना के क्षेत्र में हुआ है, वह यत्र-तत्र बिखरा हुआ है, और जो उत्कृष्ट पुस्तकें उपलब्ध हैं वह लेखों का असंगठित संग्रह हैं। बेशक कुछ अपवाद भी हैं। लेकिन इन सब के बावजूद कहानी में आलोचकों की दिलचस्पी लगातार बढ़ी है और कहानी की आलोचना को एक संगठित आधार देने का काम हिंदी में लगातार जारी है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप कहानी आलोचना के वैश्विक परिदृश्य और हिंदी में कहानी आलोचना की परंपरा को समझ सकेंगे/सकेंगी।

1. कहानी आलोचना की वैश्विक परंपरा की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिये।
2. हिंदी कहानी की आरंभिक आलोचना की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
3. नयी कहानी के दौर की आलोचनात्मक बहसों पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिये।
4. आज की कहानी आलोचना को प्रभावित करने वाले विमर्शों का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

संदर्भ ग्रंथ :

1. जैनेंद्र कुमार, सं., 23 हिन्दी कहानियाँ, इलाहाबाद: लोकभारती, 1998।
2. सतीश जमाली, भूमिका, जंगजारी- (कहानी-संग्रह), नई दिल्ली: प्रकाशन संस्थान, 2001।
3. यशपाल, यशपाल की संपूर्ण कहानियाँ, इलाहाबाद: लोकभारती, 2000।
4. मार्कंडेय, कहानी की बात, इलाहाबाद : लोकभारती, 1984।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. हिन्दी कहानी का विकास, मधुरेश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ.प्र.।
2. कहानी: नयी कहानी, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. कहानी: स्वरूप और संवेदना, राजेन्द्र यादव, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
4. समकालीन कहानी: रचनामुद्रा, पुष्पपाल सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।